5
अलंकार

संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकारो का विशेष महत्त्व है। अलंकारो की महत्ता के कारण ही इस शास्त्र का अपर नाम अलंकारशास्त्र भी है। इतना ही नहीं, अनेक आचार्यों ने अपने ग्रन्थ का नामकरण अलंकारों को दृष्टि में रखकर किया। आचार्य भामह के ग्रन्थ का नाम काव्यालंकार है। रुय्यक ने तो अपने ग्रन्थ का नाम अलंकारसर्वस्व रखा है।

यद्यपि अलंकारों का प्रयोग ऋग्वेद से होता आ रहा है, परन्तु इसका शास्त्रीय विवेचन भरत मुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र से प्रारम्भ होता है। वहाँ उपमा, रूपक, दीपक और यमक चार अलंकारों का वर्णन किया गया है। परन्तु कालान्तर में सर्वाधिक विकास अलंकारों के क्षेत्र में हुआ। आचार्यों ने शताधिक अलंकारों का उन्मेष किया तथा लक्षण एवं उदाहरण के साथ उनका विवेचन किया। कुछ आचार्यों ने अलंकार को काव्य की आत्मा मानने के पक्ष में अनेक तर्क दिये।

'अलंकारोतीत्यलंकार' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अलंकार काव्य को अलंकृत करने वाले होते हैं। जिस प्रकार से नूतन-वस्त्र एवं हार आदि आभूषणों से शरीर सुशोभित होता है, उसी प्रकार अलंकार से काव्य शोभित होता हैं। आचार्य भामह का मानना है कि जिस प्रकार आभूषण के अभाव में रमणी का सुन्दर मुख भी सुशोभित नहीं होता है, उसी प्रकार अलंकारों के बिना काव्य में सौन्दर्य का आधान नहीं होता है – **न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।**

आचार्य दण्डी ने अलंकार की परिभाषा देते हुए कहा है – **काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।** अर्थात् काव्य के शोभाकारक धर्म को अलंकार कहते हैं। आचार्य मम्मट के अनुसार जो धर्म काव्य-शरीर रूप शब्द और अर्थ को

उपकृत करता हो तथा कभी-कभी रस को भी उपकृत करता हो, वह हार आदि के समान अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार कहे जाते हैं –

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥

काव्यप्रकाश 8.67

आचार्य मम्मट ने इस लक्षण में स्पष्ट किया है कि अलंकार वस्तुतः शब्द और अर्थ को उपकृत करते हैं। परन्तु इसी व्याज से वे कभी-कभी रस का भी उपकार करते हैं। यह हार आदि शारीरिक आभूषण के समान काव्य का बहिरंग तत्त्व है।

कविराज विश्वनाथ प्रदत्त अलंकार-लक्षण मम्मट के मत का ही समर्थन करता है कि –

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तिऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥

साहित्यदर्पण 10.1

शोभा को अतिशायित करने वाले, रस भाव आदि के उपकारक जो शब्द और अर्थ के अस्थिर हैं, वे अंगद (बाजूबन्द) आदि की तरह अलंकार होते हैं।

इस प्रकार अलंकार काव्य का शोभावर्धक तत्त्व है। यह शब्द और अर्थ पर आश्रित रहकर इनके सौन्दर्य को बढ़ाता है। इससे रस भी उपकृत होता है।

अलंकारों को तीन भागों में बाँटा गया है – 1. शब्दालंकार, 2. अर्थालंकार तथा 3. उभयालंकार। शब्द पर आश्रित रहनेवाला शब्दालंकार होता है जबकि अर्थ पर निर्भर रहने वाला अर्थालंकार होता है। जहाँ शब्द को उसके ही पर्यायवाची शब्द से स्थानापन्न कर देने पर अलंकारत्व नष्ट हो जाता है, वहाँ शब्दालंकार होता है। इसी को शब्दाश्रित कहते हैं। इसके विपरीत अपने ही पर्यायवाची शब्द से स्थानापन्न होने पर भी अलंकार का नष्ट न होना अर्थालंकार है। अर्थालंकार में अलंकारत्व अर्थाश्रित होता है, इसलिए शब्द के परिवर्तन मात्र से अलंकार के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इस प्रकार शब्दालंकार एवं अर्थालंकार का भेदक-तत्त्व शब्द-परिवृत्तिसहत्वं है। शब्द एवं अर्थ दोनों पर आश्रित रहनेवाला उभयालंकार होता है। आचार्य मम्मट शब्दालंकारों की संख्या छः मानते हैं – 1. वक्रोक्ति, 2. अनुप्रास, 3. यमक 4. श्लेष, 5.

चित्र तथा 6. पुनरुक्तवदाभास। आचार्य विश्वनाथ इन छः के साथ भाषासम को शब्दालंकार मानते हैं।

अर्थालंकारों की संख्या बहुत अधिक है। आचार्य मम्मट ने 61 अर्थालंकारों का विवेचन किया है। आचार्य विश्वनाथ ने 76 अर्थालंकारों एवं दो उभयालंकारों का उदाहरण सहित लक्षण दिया है। परन्तु अलंकारों की संख्या सुनिश्चित नहीं है। आचार्यगण अपनी-अपनी प्रतिभा से नूतन अलंकारों का उन्मेष करते रहे हैं।

कुछ प्रमुख अर्थालंकार - उपमा, रूपक, संदेह, भ्रान्तिमान, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, समासोक्ति, स्वभावोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग, विभावना, विशेषोक्ति यथासंख्य, परिसंख्या, परिकार आदि हैं।

उभयालंकार - संकर एवं संसृष्टि को उभयालंकार माना जाता है।

अनुप्रास

अनुप्रासः शब्दसाम्य वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्। साहित्यदपर्ण 10.3

अनुवाद - स्वर्ण वर्णों में विषमता रहने पर भी शब्द के साम्य को अनुप्रास कहते हैं।

विमर्श - अनुप्रास अलंकार का सर्वाधिक स्पष्ट लक्षण आचार्य हेमचन्द्र ने दिया है - **व्यञ्जनस्यावृत्तिरनुप्रासः।**

व्यञ्जन वर्णों की आवृति को अनुप्रास अलंकार कहते हैं। यहाँ व्यञ्जन वर्णों की आवृत्ति कहने का तात्पर्य है - अनुप्रास अलंकार में केवल व्यञ्जन वर्णों की आवृत्ति देखी जाती है, स्वर वर्णों की नहीं।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार अनुप्रास अलंकार का लक्षण है -

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।

स्वर वर्णों की विषमता होने पर भी शब्दों का सादृश्य अनुप्रास अलंकार है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार स्वरमात्र की समानता से काव्य में किसी चमत्कार का आधान नहीं होता है - **स्वरमात्रसादृश्यं तु वैचित्र्याभावान्न गणितम्।**

आचार्य मम्मट कृत अनुप्रास अलंकार का लक्षण अत्यन्त सूक्ष्म है - **वर्णसाम्यमनुप्रासः।**

वर्णों की समानता अनुप्रास अलंकार है अर्थात् अनुप्रास अलंकार की परिभाषा है - **वर्णसाम्यम्।** इस परिभाषा की स्पष्टता के लिए मम्मट कृत वृत्ति को समझना होगा - **स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनसादृशत्वं वर्णसाम्यम्।**

अर्थात् स्वरों में असमानता होने पर भी व्यञ्जन वर्णों की समानता वर्णसाम्य है। इस प्रकार का वर्णसाम्य ही अनुप्रास अलंकार कहलाता है।

अनुप्रास अलंकार की मुख्य बातें -

(1) स्वरों में समानता न होने पर भी व्यञ्जन वर्णों की समानता।

(2) व्यञ्जन वर्णों की समानता पद में भी हो सकती है और पदांश में भी।

(3) स्वरों की आवृत्ति से काव्य में कोई चमत्कार उत्पन्न नहीं होता है, इसलिए अनुप्रास अलंकार में इसका कोई महत्त्व नहीं है।

(4) यह सदा रस और भाव के अनुकुल होता है। रस के प्रतिकूल होते ही इसका अलंकारत्व क्षीण हो जाता है।

अनुप्रास अलंकार के प्रकार

अनुप्रास अलंकार को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है -

1. वर्णानुप्रास तथा 2. पदानुप्रास

वर्णों की आवृत्ति वर्णानुप्रास है। जब वर्णों की आवृत्ति एक बार होती है, तब उसको छेकानुप्रास कहते हैं। तथा वर्णों की अनेक बार आवृत्ति को वृत्यानुप्रास कहते हैं। इस प्रकार वर्णानुप्रास दो प्रकार का है - (1) छेकानुप्रास तथा (2) वृत्यानुप्रास। पुनः वर्णों के स्वरूप के आधार पर वृत्यानुप्रास तीन प्रकार का है -

(1) उपनागरिका - माधुर्य व्यञ्जक वर्णों की दो या दो से अधिक बार आवृत्ति होने पर उपनागरिका होती है।

(2) परुषा - ओज के प्रकाशक वर्णों की दो या दो से अधिक बार आवृत्ति परुषा है।

(3) कोमला - माधुर्य और ओज वर्णों से भिन्न वर्णों की दो या दो से अधिक बार आवृत्ति कोमला कहलाती है।

इन्हीं तीनों से बाद में क्रमशः वैदर्भी, पाञ्चाली और गौडी वृत्तियों का विकास हुआ।

पदानुप्रास या शब्दानुप्रास – इसमें पदों की आवृत्ति होती है। यहाँ पदों की आवृत्ति से तात्पर्य है – वाक्य में प्रयुक्त एक या अनेक पदों का एक या अनेक बार आवृत्ति। इस आवृत्ति में पदों के अर्थ में कोई भेद नहीं होता है परन्तु अन्वय भेद से वाक्यार्थ में भेद हो जाता है। लाट देश में अधिक प्रयुक्त होने के कारण आचार्यों ने इसको लाटानुप्रास भी कहा है। यह पाँच प्रकार का होता है –

(1) अनेकपदगत लाटानुप्रास

(2) एकपदशत लाटानुप्रास

(3) समासगत

(4) भिन्नसमासगत

(5) समासामासगत

यथा–

आदाय बकुलगन्धान्धीकुर्वन्पदे पदे भ्रमरान्।
अयमेति मन्दमन्दं कावेरीवारिपावनः पवनः॥

बकुल (मौलीसिरी) के गन्ध को लेकर पद–पद में भ्रमरों को मदान्ध करता हुआ, कावेरी के जलकणों से युक्त पवित्र करने वाला यह पवन धीरे–धीरे चला आ रहा है।

यहाँ 'गन्धान्धी' पद में 'न' और 'ध' वर्ण की, 'कोवेरीवारि' में 'व' और 'र' वर्ण की तथा 'पावनः पवनः' में 'प', 'व' और 'न' वर्णों की आवृत्ति हो रही है। यहाँ अनुप्रास अलंकार है। इस पद्य में वर्णों की एक–एक वार आवृत्ति हुई है, इसलिए यह छेकानुप्रास है।

अन्य उदाहरण

1. सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाताः।
   प्रच्छायसुलभनिद्रा द्विवसाः परिणामरमणीयाः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.3
2. शुद्धान्तदुलर्भमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
   दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.17
3. कः पौरवे वसमुतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।
   अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.25

4. मधुमदकला मधुकरा मदनार्ताभिः प्रियाभिरुपगूढाः।
पादन्यासविषण्णा वयमिव कान्तावियुक्ता स्युः।। स्वप्नवासवदत्त 4/3

5. वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना
स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा
निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम्।। किरातार्जुनीय 1.13

यमक

आचार्य विश्वनाथ ने यमक अलंकार की परिभाषा दी है -

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते।।

साहित्यदर्पण 10.8

अनुवाद - यदि अर्थयुक्त हो तो भिन्न अर्थवाले स्वर-व्यञ्जन समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति को यमक अलंकार कहते हैं।

विमर्श - स्वर-व्यञ्जन समुदाय पद को कहते हैं। इसका अभिप्राय है कि पदों की आवृत्ति यमक अलंकार है, यदि आवृत्ति होने वाले पद भिन्न-भिन्न अर्थों का सूचक हो या एक पद सार्थक हो और दूसरा पद निरर्थक हो या दोनों पद निरर्थक हो। लक्षण में प्रयुक्त 'सत्यर्थे' पद का यही तात्पर्य है। '**क्रमेण तैनेव**' से यमक अलंकार में अनुप्रास के संशय का निराकरण किया गया है। अनुप्रास अलंकार में वर्णों की आवृत्ति में क्रम का कोई बन्धन नहीं होता है परन्तु यमक में वर्णों की क्रमिक आवृत्ति आवश्यक है, अन्यथा 'दमो-मोदः' में भी यमक अलंकार मानना पड़ेगा।

यमक के भेद

आचार्य मम्मट ने यमक के आठ भेदों का उल्लेख किया है -

1. संदंश यमक
2. युग्म यमक
3. महायमक
4. संदष्ट यमक

5. आद्यन्तिक यमक
6. आद्यन्तिक-अन्तादिक यमक
7. पादगत (पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध में) आद्यन्तिक-अन्तादिक यमक तथा
8. अनियतस्थानवृत्ति यमक

यथा -

नवपलाश-पलाशवनं पुरः स्फुटपराग-परागत-पंकजम्।
मृदुल-तान्त लतान्तमवलोकयत्सः सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः॥

जिसमें पलाशों (ढाकों) का वन नवीन पलाशों (पत्तों) से युक्त हो गया है और कमल बढ़े हुए पराग (पुष्पराज) से परागत (युक्त) हो गये हैं, पुष्पों की अधिकता से सुरभि (सुगन्धित) उस सुरभि (वसन्त ऋतु) को श्रीकृष्ण ने रैवतक पर्वत पर देखा।

इस पद्य में 'पलाश-पलाश' 'पराग-पराग', 'लतान्त-लतान्त' तथा 'सुरभिं-सुरभिं' में प्रयुक्त दोनों पद सार्थक हैं। लतान्त-लतान्त' में पहला पद निरर्थक है, क्योंकि वह पूर्व पद 'मृदुल' से मिला हुआ है। 'पराग-पराग' में दूसरा पद निरर्थक है, क्योंकि इसमें अग्रिम पद गत' का 'ग' संयुक्त है। ऐसे पदों की आवृत्ति को पादवृत्ति यमक कहते हैं।

अन्य उदाहरण

1. वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती
   कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ।
   कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ
   विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम्॥ किरातार्जुनीयम 1.36
2. सन्नारीभरणोमायमाराध्य विधुशेखरम्।
   सन्नारीभरणोऽमायस्ततस्त्वं पृथिनीं जय॥ काव्यप्रकाश 10.360
3. सरस्वति! प्रसादं मे स्थितिं चित्तसरस्वति!
   सर स्वति कुरु क्षेत्र कुरुक्षेत्र सरस्वति॥ काव्यप्रकाश 10.366
4. अनन्तमहिमव्याप्तविश्वां वेधा **न वेद याम्।**
   या च मातेव भजते प्रणते मान**वे दयाम्।** वही 10.364

5. यदानतोऽयदानतो नयात्ययं न यात्ययम्।
शिवेहितां शिवे हितां स्मरामितां स्मरामि ताम्।। वही 10.365

श्लेष

श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते। साहित्यदर्पण 10.11

अनुवाद - शिलष्ट पदों से अनेक अर्थों का अभिधान होने पर श्लेष अलंकार होता है।

विमर्श - यहाँ 'शिलष्टैः' से तात्पर्य है - जुड़ जाना अर्थात् श्लेष में दो भिन्न-भिन्न अर्थवाले पद वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन के कारण जुड़ जाते हैं और एक (शिलष्ट) प्रतीत होते हैं। इसमें कवि के वर्णन चातुर्य के कारण पद होते तो दो हैं परन्तु दृष्टिगत एक ही होते हैं।

आचार्य मम्मट ने श्लेष अलंकार का लक्षण अधिक स्पष्टता से किया है-

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद् भाषणस्पृशः।
शिलष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा।।

जहाँ अर्थ भेद होने से भिन्न-भिन्न शब्द एक साथ उच्चरित होने के कारण एक रूप प्रतीत होते हैं वह श्लेष अलंकार है।

यह श्लेष वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रत्यय विभिक्ति और वचन भेद से आठ प्रकार का होता है।

मुख्य तथ्य

1. भिन्नार्थक शब्दों का पारस्परिक भेद को अप्रतीति श्लेष अलंकार है।
2. श्लेष अलंकार में दो शब्द जतुकाष्ठ न्याय से परस्पर इस प्रकार से मिल जाते हैं कि उनकी भिन्नता की प्रतीति नहीं होती है।
3. एक शब्द से दो अर्थों की प्रतीति का आभास होता है।

यथा-

प्रतिकूलतामुपगते विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि।।

साहित्यदर्पण पृ. 282

(विधि (दैव) अथवा विधु (चन्द्रमा) के प्रतिकूल होने पर सब साधन

5. आद्यन्तिक यमक
6. आद्यन्तिक-अन्तादिक यमक
7. पादगत (पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध में) आद्यन्तिक-अन्तादिक यमक तथा
8. अनियतस्थानवृत्ति यमक

यथा -

नवपलाश-पलाशवनं पुरः स्फुटपराग-परागत-पंकजम्।
मृदुल-तान्त लतान्तमवलोकयत्सः सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः।।

जिसमें पलाशों (ढाकों) का वन नवीन पलाशों (पत्तों) से युक्त हो गया है और कमल बढ़े हुए पराग (पुष्पराज) से परागत (युक्त) हो गये हैं, पुष्पों की अधिकता से सुरभि (सुगन्धित) उस सुरभि (वसन्त ऋतु) को श्रीकृष्ण ने रैवतक पर्वत पर देखा।

इस पद्य में 'पलाश-पलाश' 'पराग-पराग', 'लतान्त-लतान्त' तथा 'सुरभिं-सुरभिं' में प्रयुक्त दोनों पद सार्थक हैं। लतान्त-लतान्त' में पहला पद निरर्थक है, क्योंकि वह पूर्व पद 'मृदुल' से मिला हुआ है। 'पराग-पराग' में दूसरा पद निरर्थक है, क्योंकि इसमें अग्रिम पद गत' का 'ग' संयुक्त है। ऐसे पदों की आवृत्ति को पादवृत्ति यमक कहते हैं।

अन्य उदाहरण

1. वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती
   कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ।
   कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ
   विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम्।। किरातार्जुनीयम 1.36
2. सन्नारीभरणोमायमाराध्य विधुशेखरम्।
   सन्नारीभरणोऽमायस्ततस्त्वं पृथिनीं जय।। काव्यप्रकाश 10.360
3. सरस्वति! प्रसादं मे स्थितिं चित्तसरस्वति!
   सर स्वति कुरु क्षेत्र कुरुक्षेत्र सरस्वति।। काव्यप्रकाश 10.366
4. अनन्तमहिमव्याप्तविश्वां वेधा **न वेद याम्।**
   या च मातेव भजते प्रणते **मानवे दयाम्।** वही 10.364

4. मधुमदकला मधुकरा मदनार्ताभिः प्रियाभिरुपगूढाः।
पादन्यासविषण्णा वयमिव कान्तावियुक्ता स्युः।। स्वप्नवासवदत्त 4/3

5. वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना
स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा
निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम्।। किरातार्जुनीय 1.13

यमक

आचार्य विश्वनाथ ने यमक अलंकार की परिभाषा दी है -

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते।।

साहित्यदर्पण 10.8

अनुवाद - यदि अर्थयुक्त हो तो भिन्न अर्थवाले स्वर-व्यञ्जन समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति को यमक अलंकार कहते हैं।

विमर्श - स्वर-व्यञ्जन समुदाय पद को कहते हैं। इसका अभिप्राय है कि पदों की आवृत्ति यमक अलंकार है, यदि आवृत्ति होने वाले पद भिन्न-भिन्न अर्थों का सूचक हो या एक पद सार्थक हो और दूसरा पद निरर्थक हो या दोनों पद निरर्थक हो। लक्षण में प्रयुक्त 'सत्यर्थे' पद का यही तात्पर्य है। **'क्रमेण तैनेव'** से यमक अलंकार में अनुप्रास के संशय का निराकरण किया गया है। अनुप्रास अलंकार में वर्णों की आवृत्ति में क्रम का कोई बन्धन नहीं होता है। परन्तु यमक में वर्णों की क्रमिक आवृत्ति आवश्यक है, अन्यथा 'दमो-मोदः' में भी यमक अलंकार मानना पड़ेगा।

यमक के भेद

आचार्य मम्मट ने यमक के आठ भेदों का उल्लेख किया है -

1. संदंश यमक
2. युग्म यमक
3. महायमक
4. संदष्ट यमक

5. आद्यन्तिक यमक
6. आद्यन्तिक-अन्तादिक यमक
7. पादगत (पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध में) आद्यन्तिक-अन्तादिक यमक तथा
8. अनियतस्थानवृत्ति यमक

यथा -

नवपलाश-पलाशवनं पुरः स्फुटपराग-परागत-पंकजम्।
मृदुल-तान्त लतान्तमवलोकयत्सः सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः।।

जिसमें पलाशों (ढाकों) का वन नवीन पलाशों (पत्तों) से युक्त हो गया है और कमल बढ़े हुए पराग (पुष्पराज) से परागत (युक्त) हो गये हैं, पुष्पों की अधिकता से सुरभि (सुगन्धित) उस सुरभि (वसन्त ऋतु) को श्रीकृष्ण ने रैवतक पर्वत पर देखा।

इस पद्य में 'पलाश-पलाश' 'पराग-पराग', 'लतान्त-लतान्त' तथा 'सुरभिं-सुरभिं' में प्रयुक्त दोनों पद सार्थक हैं। लतान्त-लतान्त' में पहला पद निरर्थक है, क्योंकि वह पूर्व पद 'मृदुल' से मिला हुआ है। 'पराग-पराग' में दूसरा पद निरर्थक है, क्योंकि इसमें अग्रिम पद गत' का 'ग' संयुक्त है। ऐसे पदों की आवृत्ति को पादवृत्ति यमक कहते हैं।

अन्य उदाहरण

1. वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती
   कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ।
   कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ
   विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम्।। किरातार्जुनीयम 1.36
2. सन्नारीभरणोमायमाराध्य विधुशेखरम्।
   सन्नारीभरणोऽमायस्ततस्त्वं पृथिनीं जय।। काव्यप्रकाश 10.360
3. सरस्वति! प्रसादं मे स्थितिं चित्तसरस्वति!
   सर स्वति कुरु क्षेत्र कुरुक्षेत्र सरस्वति।। काव्यप्रकाश 10.366
4. अनन्तमहिमव्याप्तविश्वां वेधा न वेद याम्।
   या च मातेव भजते प्रणते मानवे दयाम्। वही 10.364

5. यदानतोऽयदानतो नयात्ययं न यात्ययम्।
शिवेहितां शिवे हितां स्मरामितां स्मरामि ताम्।। वही 10.365

श्लेष

श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते। साहित्यदर्पण 10.11

अनुवाद - शिलष्ट पदों से अनेक अर्थों का अभिधान होने पर श्लेष अलंकार होता है।

विमर्श - यहाँ 'शिलष्टैः' से तात्पर्य है - जुड़ जाना अर्थात् श्लेष में दो भिन्न-भिन्न अर्थवाले पद वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन के कारण जुड़ जाते हैं और एक (श्लिष्ट) प्रतीत होते हैं। इसमें कवि के वर्णन चातुर्य के कारण पद होते तो दो हैं परन्तु दृष्टिगत एक ही होते हैं।

आचार्य मम्मट ने श्लेष अलंकार का लक्षण अधिक स्पष्टता से किया है-

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद् भाषणस्पृशः।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा।।

जहाँ अर्थ भेद होने से भिन्न-भिन्न शब्द एक साथ उच्चरित होने के कारण एक रूप प्रतीत होते हैं वह श्लेष अलंकार है।

यह श्लेष वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रत्यय विभिक्ति और वचन भेद से आठ प्रकार का होता है।

मुख्य तथ्य

1. भिन्नार्थक शब्दों का पारस्परिक भेद को अप्रतीति श्लेष अलंकार है।
2. श्लेष अलंकार में दो शब्द जतुकाष्ठ न्याय से परस्पर इस प्रकार से मिल जाते हैं कि उनकी भिन्नता की प्रतीति नहीं होती है।
3. एक शब्द से दो अर्थों की प्रतीति का आभास होता है।

यथा-

प्रतिकूलतामुपगते विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि।।

साहित्यदर्पण पृ. 282

(विधि (दैव) अथवा विधु (चन्द्रमा) के प्रतिकूल होने पर सब साधन

विफल हो जाते हैं। गिरने (अस्त होने) के समय सूर्य के हजार कर (किरण या हाथी) भी सहारा देने में पर्याप्त न हो सके)।

यहाँ 'विद्यौ' पद में 'विधि' और 'विधु' शब्दों के अन्तिम वर्ण (इकार और उकार) औकार (और) के रूप में परिणत हो गये हैं। अतः यहाँ दो वर्णों का श्लेष है। यहाँ 'विधि' पद से भाग्य और चन्द्रमा दोनों अर्थ प्रतीत होते हैं। इस प्रकार यहाँ श्लेष अलंकार है। वर्णों में श्लेष के कारण इसको वर्ण-श्लेष कहते हैं।

अन्य उदाहरण

1. गुणवत्युपायनिलये स्थितिहेतोः साधिके त्रिवर्गस्य।
   मद्भवननीतिविद्ये कार्याचार्ये द्रुतमुपेहि। मुद्राराक्षस 1.5
2. कमलानां मनोहराणामपि रूपाद्विसंवदति शीलम्।
   सम्पूर्णमण्डलेऽपि यानि चन्द्रे विरुद्धानि।। मुद्राराक्षस 1.19
3. पीत्वा निरवशेषं कुसुमरसमात्मनः कुशलतया।
   यदुद्गिरति भ्रमरः अन्येषां करोति तत्कार्यम्।। मुद्राराक्षस 2.11
4. अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये
   रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति।
   अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
   पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः।। अभिज्ञानशाकुन्तल 2.14
5. अभिनवमधुपलोलुपो भवांस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्।
   कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर! विस्मृतोऽस्येनां कथम्।।
   अभिज्ञानशाकुन्तल 5.1

उपमा

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः। साहित्यदर्पण 10.14

अनुवाद- एक वाक्य में दो पदार्थों के वैधर्म्य रहित वाच्य सादृश्य को उपमा कहते हैं।

विमर्श- यहाँ दो पदार्थ से तात्पर्य है- उपमान और उपमेय। उपमान और उपमेय उपमा अलंकार के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग हैं। वस्तुतः उपमा अलंकार

में दो वस्तुओं के मध्य समान धर्म (साधर्म्य) के द्वारा सादृश्य का कथन किया जाता है। जिन दो वस्तुओं के मध्य सादृश्य का कथन किया जाता है उनमें एक को उपमान और दूसरे को उपमेय कहते हैं। अधिक गुणवाला अथवा प्रसिद्ध पदार्थ उपमान होता है और कम गुणवाला अथवा अप्रसिद्ध पदार्थ उपमेय है। जैसे **चन्द्रमिव तस्य मुखं सुन्दरमस्ति।** (उसका मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है)

यहाँ मुख और चन्द्रमा के बीच सादृश्य का कथन किया गया है। इसमें दो पदार्थ हैं - चन्द्रमा और मुख। इन दोनों में चन्द्रमा प्रसिद्ध पदार्थ है और मुख अप्रसिद्ध है। इसलिए चन्द्रमा उपमान है और मुख उपमेय।

मुख और चन्द्रमा के बीच जिस समानता की बात की जा रही है वह है - सौन्दर्य। सौन्दर्य में मुख चन्द्रमा के समान है। इसी को साधारण धर्म कहते हैं। अर्थात् जिस बात में उपमान और उपमेय समान बताये जा रहे हैं, उसको साधारण धर्म कहते हैं। इस प्रकार साधारण धर्म के आधार पर उपमान और उपमेय में सादृश्य का कथन उपमा अलंकार है।

उपमा अलंकार के अवयव - उपमा के चार अवयव होते हैं - उपमेय, उपमान, वाचक शब्द और साधारण धर्म।

उपमा सूचक शब्दों को वाचक शब्द कहते हैं। इव, वत्, वा, यथा, समान, तुल्य, सम, आदि उपमावाचक शब्द हैं। इनके प्रयोग से ही उपमान और उपमेय में सादृश्य की स्थापना की जाती है। जैसे - **'चन्द्रमिव तस्य मुखं सुन्दरम्'** में 'इव' वाचक शब्द है। इव का अर्थ है - समान। इस वाचक शब्द के प्रयोग से ही चन्द्रमा और मुख में समानता व्यक्त हो रही है। वाचक शब्द सामान्यतया तुल्य अर्थ के प्रतिपादक होते हैं।

उपमा के भेद

आचार्य विश्वनाथ ने उपमा अलंकार के 27 भेदों का निर्धारण किया है -

1. पूर्णोपमा - 6 प्रकार (श्रौती-3, आर्थी-3)
2. लुप्तोपमा- 21प्रकार (धर्मलुप्ता-10, उपमानलुप्ता-2, वाचकलुप्ता-2, धर्मोपमानलुप्ता-2, धर्मवाचक लुप्ता-2, उपमेयलुप्ता -1, धर्मोपमेयलुप्ता-1, त्रिलुप्ता-1)

यथा–

सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य, कुम्भाविव स्तनौ पीनौ।
हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले।।

(हे सुन्दरी, तुम्हारे मुख का सौरभ (सुगन्ध) कमल जैसा है। तुम्हारे स्तन कुम्भ जैसा पीन है। शरद-ऋतु के चन्द्रमा के समान तुम्हारा मुख हृदय को प्रमत्त कर रहा है।)

यहाँ मुख के सौरभ की तुलना कमल से, स्तन की तुलना कुम्भ से तथा वदन की तुलना शरद-ऋतु के चन्द्रमा से की गई है। इस प्रकार यहाँ उपमा अलंकार है। यहाँ **'सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य'** में कमल उपमान है , मुख उपमेय है, सौरभ साधारण धर्म है तथा वत् उपमावाचक शब्द है। इससे यह पूर्णोपमा का उदाहरण बन जाता है। इसी प्रकार इस पद्य के अन्य तीन चरणों में पूर्णोपमा अलंकार है।

अन्य उदाहरण

1. तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
   एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.5
2. न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्
   मृदुनि मृगशरीरे पुष्पराशाविवाग्निः।
   क्व वत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं
   क्व च निशितनिपाता ब्रजसाराः शरास्ते।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.10
3. इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे
   स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन।
   वपुरभिनवमस्याः पुष्यति स्वां न शोभां
   कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.19
4. कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद्द्वैधीभवति मे मनः।
   पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतः स्रोतोवहो यथा।। अभिज्ञानशाकुन्तल 2.17
5. शरच्छशाङ्कगौरेण वाताविद्धेन भामिनि।
   काशपुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं मम।। स्वप्नवासवदत्त स्व. 4/7

रूपक

रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे। -साहित्यदर्पण 10.28

अनुवाद - निरपह्न अर्थात् निषेधरहित विषय (उपमेय) में रूपित (उपमान) के आरोप को रूपक अलंकार कहते हैं।

विमर्श- इसका सीधा सा तात्पर्य है कि उपमेय में उपमान के आरोप का कथन या अभेद की स्थापना रूपक अलंकार है। उपमेय में उपमान का आरोप दो प्रकार से सम्भव है - (1) उपमेय का निषेध कर तथा (2) उपमेय का निषेध किये बिना। प्रथम स्थिति में अपह्नुति अलंकार होता तथा द्वितीय स्थिति में रूपक अलंकार होता है।

इसीलिए आचार्य विश्वनाथ ने इस लक्षण में 'निरपह्नवे' पद का प्रयोग कर रूपक और अपह्नुति अलंकारों में समानता की शंका का निराकरण किया है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप में प्रकाशित होने वाले उपमान और उपमेय में अभेद का प्रदर्शन रूपक अलंकार है। यह अभेद वस्तुतः काल्पनिक होता है। उपमान और उपमेय दोनों अलग-अलग वस्तुएँ हैं परन्तु काव्य में चमत्कार के सृजन के लिए कवि उपमेय को ही उपमान के रूप में वर्णित करता है। **यथा-तस्य मुखं चन्द्रः**। इस वाक्य में मुख और चन्द्रमा दो अलग-अलग पदार्थ हैं। यहाँ मुख उपमेय है और चन्द्रमा उपमान है। परन्तु मुख और चन्द्रमा में अतिशय साम्य को बताने के लिए काल्पनिक रूप से मुख को चन्द्रमा कहा गया है। इस प्रकार यहाँ मुख और चन्द्रमा काल्पनिक रूप से अभेद सिद्ध किया गया है। यह अभेद मुख पर चन्द्रमा के आरोप के कारण है। यही उपमेय पर उपमान का आरोप रूपक अलंकार को जन्म देता है।

रूपक के भेद - रूपक अलंकार तीन प्रकार का होता है -

1. परम्परित रूपक
2. साङ्ग रूपक
3. निरङ्ग रूपक

इनमें परम्परित रूपक के दो भेद हैं :-

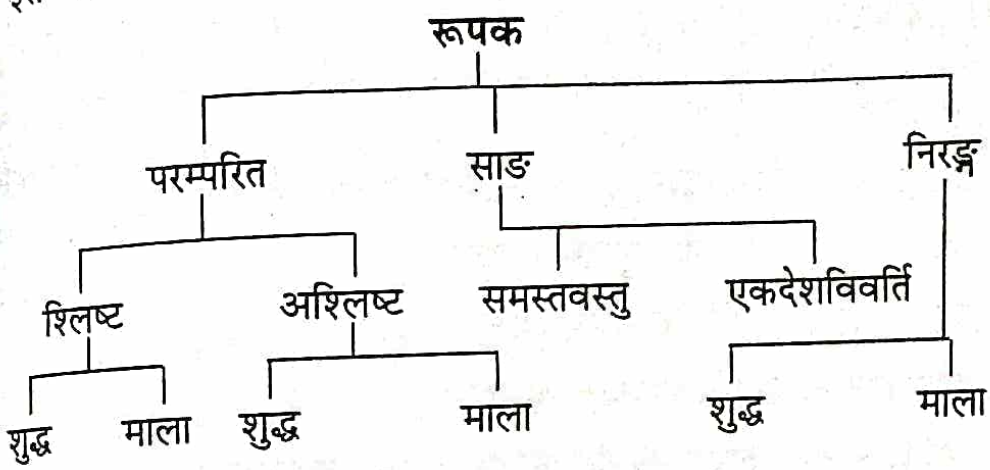
1. श्लिष्ट - दो प्रकार (क) शुद्ध तथा (ख) माला
2. अश्लिष्ट - दो प्रकार (क) शुद्ध तथा (ख) माला

सांग रूपक के दो भेद-

1. समस्तवस्तुविषयक
2. एकदेशविवर्ति

निरङ्ग रूपक के दो भेद : 1. शुद्ध तथा 2. माला

इस प्रकार रूपक अलंकार के कुल 8 भेद हैं-



यथा -

> **आहवे जगदुद्दण्डराजमण्डलराहवे।**
> **श्रीनृसिंहमहीपाल स्वस्त्यस्तु तव बाहवे।।**

(हे नृसिंह महीपते रण में जगत के उद्दण्ड राजमण्डल (चन्द्रमण्डल रूप नृपमण्डल) के लिए राहु रूप तुम्हारे बाहु का कल्याण हो।)

इस पद्य में 'राजपद' चन्द्रमा और राजा दोनों का वाचक है तथा राजमण्डल पर चन्द्रमण्डल का आरोप है। इसी प्रकार बाहु पर राहु का आरोप है। अतः रूपक अलंकार है। यहाँ राजमण्डल पर चन्द्र मण्डल के आरोप के कारण ही बाहु पर राहु का आरोप किया गया है। इसलिए यह परम्परित रूपक का उदाहरण है।

अन्य उदाहरण

1. नन्दकुलकालभुजगीं कोपानलबहुलनीलधूमलताम्।
   अद्यापि बध्यमानां बध्यः को नेच्छति शिखां मे।। मुद्राराक्षस 1.9
2. उल्लंघयन् मम सुमुज्ज्वलतः प्रतापं
   कोपस्य नन्दकुलकाननधूमकेतोः।

सद्यः परात्मपरिमाणविवेकमूढ:

कः शालभेन विधिना लभतां विनाशम्।। मुद्राराक्षस 1.10

3. अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरूपमिदं त्वयि।

आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः।। अभिज्ञानशाकुन्तल 2.16

4. अनुमतगमना शकुन्तला

तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।

परभृतविरुतं कलं यथा

प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम्।। अभिज्ञानशाकुन्तल 4.10

5. शिखां मोक्तुं बद्धामपि पुनरयं धावति करः

प्रतिज्ञामारोढुं पुनरपि चलत्येष चरणः।

प्राणाशान्नन्दानां प्रशममुपयातं त्वमधुना

परीतः कालेन ज्वलयसि मम क्रोदहदनम्।। मुद्राराक्षस 3.29

संदेह

संदेहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयहः प्रतिभोत्थितः। साहित्यदर्पण - 10.35

अनुवाद -प्रकृत (उपमेय) में अन्य (उपमान) के संशय को संदेहालंकार कहते हैं।

विमर्श- यह संशय प्रतिभा से उत्पन्न होना चाहिए। प्रतिभा से उत्पन्न संशय ही काव्य में चमत्कार का आधान करता है। इसीलिए आचार्य विश्वनाथ में सशंय को प्रतिभोत्थित कहा है।

संदेह अलंकार में उपमेय और उपमान में संशय होता है। यह संशय तुल्यकोटिक सादृश्य के कारण हेता है। आचार्य मम्मट संदेह अलंकार का वर्णन संसेदह तथा अचार्य रूद्रट संशय नाम से करते हैं।

वस्तुतः संदेह अलंकार में एक उपमेय होता है और उसमें अनेक उपमानों का संदेह किया जाता है।

संदेह अलंकार के प्रकार-

1. शुद्ध 2. निश्चय गर्भ तथा 3. निश्चयान्त

यथा -

किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी
वेलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः।
उद्गाढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविश्रम्भिणः
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृंगारिणः॥

(किसी सुन्दरी का वर्णन है। रस की अधिकता के कारण खिली हुई यौवन रूप वृक्ष की क्या यह नवीन मञ्जरी है अथवा समुद्रतट तक उछलते हुए लावण्यसागर की लहर है या बढ़ी हुई उमंगों वाले पुरुषों को अपने सिद्धान्त (कामशास्त्र के व्यवहारों) की शिक्षा देने में तत्परशृंगार के देव (कामदेव) की यह उपदेशयष्टि है।)

इस वर्णन में कामिनि विषयक संशय का निराकरण नहीं होता है। वह क्या है, यह संशय ही बना रह गया है। इसलिए यहाँ संदेह अलंकार है तथा संशय के निराकरण न होने के कारण शुद्ध संदेह है।

अन्य उदाहरण

1. चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः॥ अभिज्ञानशाकुन्तलम 2.9

2. अयं मार्त्तण्डः किं ? स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
कृशानु किं ? सर्वाः प्रसरति दिशो नैव नियतम्।
कृतान्तः किं ? साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरं
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः ॥ साहित्यदर्पण पृ. 310

3. किं तावत् सरसि सरोजमेतदारादाहोस्विन्मुखमवभासते तरुण्याः।
संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद् बिब्बोकैर्वकसहवासिनां परोक्षैः॥
साहित्यदर्पण पृ. 310

4. इन्दुः किं कलङ्कः सरसिजमेतत्किमम्बु कुत्र गतम्।
ललितविलासवचनैर्मुखमिति हरिणाक्षि। निश्चितं परतः॥
काव्यप्रकाश 10.420

5. अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
श्रृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो न पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथन्नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः।। काव्यप्रकाश 10.421

भ्रान्तिमान्

साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः। साहित्यदर्पण 10.36

अनुवाद – सादृश्य के कारण अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के निश्चयात्मक ज्ञान को, यदि वह कवि की प्रतिभा से उत्पन्न हो तो भ्रान्तिमान अलंकार कहते हैं। भ्रान्तिमान में जो वस्तु नहीं है उस वस्तु का भ्रम होता है। यह भ्रम अत्यन्त निश्ययात्मक होता है।

विमर्श – भ्रान्तिमान अलंकार रूपक से भिन्न है। रूपक में उपमेय पर उपमान का आरोप किया जाता है जबकि इसमें अनुपस्थित विषय (उपमान) पर उपस्थित विषय (उपमेय) का निश्यात्मक भ्रम होता है। रूपक में भ्रम का अभाव होता है। यह संदेह अलंकार से इस अर्थ में भिन्न है कि संदेह में उपमान और उपमेय में संशय बना रहता है अर्थात् इसमें उपमेय पर उपमान का संशय (अनिश्यात्मक) ज्ञान होता है।

उदाहरण

मुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानधो बल्लवाः
कर्णे कैरवशङ्कया कुवलयं कर्वन्ति कान्ता अपि।
कर्कन्धूफलमुच्चिनोति शबरी मुक्ताफलाशङ्कया
सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका।।

साहित्यदर्पण पृ. 311

(सान्द्रचन्द्रिका किसके चित्त में भ्रम पैदा नहीं करती है। विमुग्ध ग्वाले दूध बहता जान गौओं के नीचे घड़े लगा रहे हैं। कामिनी कुमुद (श्वेत कमल) को कुवलय (नील कमल) समझकर कान में पहन रही है। शबरी (भील की स्त्री) मोती समझकर झरबेरी के बेर बटोर रही है।)

यहाँ चन्द्रकिरणों दूध का, कमल से कुवलय का तथा झरबेरी में मोती का भ्रम हो रहा है। इस प्रकार यहाँ भ्रान्तिमान अलंकार है।

अन्य उदाहरण

1. चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशोवेपथुमतिं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मुदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलुकृती।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.24
2. कपाले मार्जारः पय इति करान् लेढि शशिनः
तरुच्छिद्रप्रोतान् विसमिति करी सङ्कलयति।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्दो जगदिदमहो विलम्बयति।। काव्यप्रकाश 10.552
3. कनकद्रवकान्तिकान्तया मिलितं राममुदीक्ष्य रमया।
चपलायुतवारिदभ्रमान्ननृते चातकपौतकैर्वने।
4. अयं प्रमत्तमधुपस्त्वन्मुखं वेद पंकजम्।
5. पालयति त्वयि वसुधां विविधाध्वर धूममालिनीः ककुभः।
पश्यन्तो दूयन्ते घनसमयाशङ्कया हंसाः।।

अपह्नुति

प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः। साहित्यदर्पण 10.39

अनुवाद - प्रकृत का प्रतिषेध करके अन्य का स्थापन अर्थात् आरोप करना अपह्नुति अलंकार होता है।

विमर्श - यहाँ प्राकृत से तात्पर्य है - उपमेय और अन्य से तात्पर्य है - उपमान। इस प्रकार अपह्नुति अलंकार में उपमेय पदार्थ का निषेध करके उसके स्थान पर उसके उपमान का वर्णन किया जाता है। इसमें उपमेय और उपमान दोनों का वर्णन होता है परन्तु उपमेय का निषेध किया जाता है और उसके स्थान पर उपमान का ग्रहण किया जाता है। अर्थात् इसमें उपमेय पदार्थ का निषेध किया जाता है तथा उसके स्थान पर उपमान को स्थापित किया जाता है। अपह्नुति और रूपक में इतना ही भेद है कि अपह्नुति में उपमेय का निषेध कर उपमान का वर्णन किया जाता है जबकि रूपक में उपमेय पर उपमान का आरोप मात्र किया जाता है। इसी प्रकार संदेह अलंकार में उपमेय पर उपमान का संशय बना रहता है जबकि अपह्नुति में संशय के स्थान पर निषेध किया जाता है।

साहित्य दर्पण के अनुसार अपह्नुति अलंकार दो प्रकार का होता है - (1) पहले उपमेय का निषेध फिर उपमान का आरोप (2) पहले उपमान का आरोप फिर उपमेय का निषेध।

आचार्य मम्मट ने अपह्नुति अलंकार के शाब्दी और आर्थी दो प्रकार बताये हैं।

मुख्य बातें

1. उपमेय का निषेध और उस पर उपमान का आरोप
2. रूपक अलंकार में उपमेय पर उपमान का आरोप होता है जबकि अपह्नुति में उपमेय का निषेध करके उस पर उपमान का अरोप होता है।
3. आक्षेप अलंकार में भी उपमेय का निषेध होता है परन्तु वहाँ उपमेय पर उपमान का आरोप नहीं होता है।
4. संदेह अलंकार में उपमेय और उपमान में संशय बना रहता है, अपह्नुति में संशय नहीं होता है अपितु आरोप होता है।

यथा -

नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नाऽसौ कलङ्कः शयितो मुरारिः।

यह आकाशमण्डल नहीं है, समुद्र है। ये तारें नहीं अपितु नवीन फेनों के खण्ड हैं। यह चन्द्रमा नहीं है बल्कि कुण्डल मारकर बैठे हुए शेषनाग हैं। यह (चन्द्रमा पर दिखने वाला) कलङ्क नहीं अपितु सोये हुए भगवान् विष्णु हैं।

यहाँ कवि आकाश का वर्णन कर रहा है। इस वर्णन में आकाशमण्डल, तारें, चन्द्रमा और कलङ्क उपमेय है। लक्षणवाक्य में इसी को प्रकृत कहा गया है। इनका ही वर्णन किया गया है। समुद्र, नवीन फेनखण्ड, कुण्डली मारकर बैठे हुए शेषनाग और सोये हुए भगवान विष्णु उपमान है। यहाँ ये उपमान आकाशादि उपमेय के लिए प्रस्तुत किये गये हैं। अर्थात् आकाश के लिए समुद्र, तारों के लिए नवीन फेनखण्ड, चन्द्रमा के लिए कुण्डली मारकर बैठे हुए शेषनाग और कलङ्क के लिये सोये हुए भगवान् विष्णु का उपमान प्रस्तुत किया गया है। परन्तु वर्णन क्रम में उपमेय का निषेध पूर्वक उल्लेख करके उसको उपमान सिद्ध किया गया है। आकाश आकाश नहीं है, समुद्र है। इसमें आकाश आकाश नहीं है यह आकाश का निषेध पूर्वक वर्णन है तथा यह समुद्र है यह

आकाश को समुद्र सिद्ध करना हुआ। इस प्रकार यहाँ उपमेय का प्रतिपेध कर उसको उपमान सिद्ध किया गया है। इसलिए इस पद्य में अपह्नुति अलंकार है।

अन्य उदाहरण

1. अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये!
कलङ्को नैवायं विलसति शशाङ्कस्य वपुषि।
अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्पन्दशिशिरे
रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि।। काव्यप्रकाश 10.431

2. बत सखि! कियदेतत् पश्य वैरं स्मरस्य
प्रियविरहकृशेऽस्मिन् रागिलोके तथा हि।
उपवनसहकारोद्भासिभृंगच्छलेन
प्रतिविशिखमनेनोदृङ्कितं कालकूटम्। काव्यप्रकाश 10.432

3. स्मितं नैतत् किन्तु प्रकृतिरमणीयं विकसितं
मुखं ब्रूते मूढः कुसुममिदमुद्यत्परिमलम्।
स्तनद्वयं मिथ्या कनक निभमेतत् फलयुगं
लता रम्या सेयं, भ्रमरकुल रम्या न रमणी।।

4. नेयं विरौति भृङ्गाली मदेन मुखरा मुहुः।
अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः।।

5. तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
र्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान्वज्रसारीकरोषि। अभिज्ञानशाकुन्तल 3.3

उत्प्रेक्षा

भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना। साहित्यदर्पण

अनुवाद – प्रस्तुत (प्रकृतस्य) की अप्रस्तुत (परात्मना) के साथ संभावना उत्प्रेक्षा होती है।

विमर्श – इसका सीधा सा अर्थ है कि जब उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है तब उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। यहाँ सम्भावना से तात्पर्य

है – उत्कटकोटिक संदेह। जब दो वस्तुओं में एक पर दूसरी वस्तु की प्रबल संदेह प्रकट किया जाता है, उसको सम्भावना कहा जाता है। भयंकर आकाल से त्रस्त किसान वर्षा को देखकर कहता है – मानो वर्षा का जल अमृत है। यहाँ वर्षा के जल पर अमृत की संभावना की गई है। यहाँ 'मानो' शब्द का प्रयोग से वर्षा के जल पर अमृत की उत्कटकोटिक संदेह प्रकट किया गया है। उत्कटकोटिक संदेह ही उत्प्रेक्षा अलंकार का मूल है। जब कवि अपनी प्रतिभा से उपमेय पर उपमान की उत्कटकोटिक सम्भावना करता है, तब उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। संस्कृत के पद्यों में मन्ये, शंके, ध्रुवम्, प्राय:, नूनम् इव आदि शब्दों का उपमेय के साथ उपमान की उत्कटकोटिक सम्भावना प्रकट की जाती है। इनमें इव उपमा और उत्प्रेक्षा दोनों में प्रयुक्त होता है। सामान्यतया उपमा में 'इव' का प्रयोग संज्ञा शब्दों के साथ होता है तथा उत्पेक्षा में क्रिया पद के साथ।

यथा –

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरूष सेसेव दृष्टिर्विफलतां गताः॥

अत्यन्त घने अन्धकार का वर्णन करते हुए कवि कहता है – मानो अन्धकार अङ्गों में लेप लगा रहा है, आकाश काजल की वर्षा कर रहा है तथा दुष्ट पुरुष की सेवा के समान आँखे विफल सी हो गई है। यहाँ अन्धकार पर लेप तथा वर्षा जल पर काजल की सम्भावना की गई है। अत: उत्प्रेक्षा अलंकार है।

अन्य उदाहरण

1. कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके।
   मृगानुसारिणं साक्षात्पश्यामीव पिनाकिनम्॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.6
2. अपामुद्वृत्तानां निजमुपदेशन्त्या स्थितिपदं
   दधत्या शालीनामवनतिमुदारे सति फले।
   मयूराणामुग्रं विषमिव हरन्त्या मदमहो
   कृत: कृत्स्नस्यायं विनय इव लोकस्य शरदा। मुद्राराक्षस 3.8
3. तीव्राघातप्रतिहततरु: स्कन्धलग्नैकदन्त:
   पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसंजातपाश:।

मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारङ्गयूथो
धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्यन्दनालोकभीतः।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.33

4. ऋज्वायतां च विरलां च नतोन्नतां च
सप्तर्षिवंशकुटिलां च निवर्तनेषु।
निर्मुच्यमानाभुजगोदरनिर्मलस्य
सीमामिवाम्बरतलस्य विभज्यमानाम्।। स्वप्नवासवदत्त 4/2

5. असक्तमाराधयतो यथायथं
विभज्य भक्त्या समपक्षपातया।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान्
न बाधतेऽस्यं त्रिगणः परस्परम्।। किरातार्जुनीयम् 1.11

अतिशयोक्ति

सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते। साहित्यदर्पण 10.46

अनुवाद - अध्यवसाय के सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति अलंकार होता है।

विमर्श -यहाँ अध्यवसाय से तात्पर्य है - उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण। अर्थात् जब उपमान उपमेय के स्वरूप को निगल जाता है और उपमेय के स्थान पर स्वयं को स्थापित कर देता है तब अतिशयोक्ति अलंकार होता है।

लोक सीमा या लोक प्रसिद्धि का अतिक्रमण कर वर्णन करना अतिशय कहलाता है और अतिशय की उक्ति अतिशयोक्ति है। **अतिशयः अतिशयिता प्रसिद्धिमतिक्रान्ता लोकातीता उक्तिः अतिशयोक्तिः।**

जैसे - जल में कमल होता है। यह लोक प्रसिद्ध है। परन्तु जब कवि अपने वर्णन-चातुर्य से स्थल पर कमल के होने का वर्णन करता है तब वह अतिशयोक्ति कहलाता है।

अतिशयोक्ति अलंकार के भेद - आचार्य विश्वनाथ ने अतिशयोक्ति अलंकार के पाँच भेदों का वर्णन किया है -

1. भेद में अभेद
2. अभेद में भेद
3. सम्बन्ध में असम्बन्ध

4. असम्बन्ध में सम्बन्ध
4. कार्य और कारणों के पौर्वापर्य का व्यत्यय

यथा –

कमलमम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेस्युत्पातपरम्परा केयम्॥

नायिका के प्रति नायक की उक्ति है। वह कह रहा है – स्थल पर कमल, उस कमल पर दो नीलकमल और वे तीनों कनक लता पर लगे हैं। वह कनकलता कोमल और सुन्दर है। यह कैसी उत्पात की परम्परा है।

यहाँ कवि का लक्ष्य नायिका का वर्णन है। परन्तु वह कनकलता का वर्णन कर रहा है। वस्तुतः यहाँ नायिका उपमेय है और कनकलता उपमान है तथा उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण किया गया है।

स्थल पर कमल, कमल पर कमल खिलना तथा कनकलता (स्वर्णलता) पर तीन कमल खिलना यह वर्णन लोक सीमा का अतिक्रमण है। लोक में जल में कमल खिलता है। इस प्रकार कमल पर कमल नहीं खिलता और नहीं कनकलता पर कमल खिलने की कोई परम्परा है। इसप्रकार इस वर्णन में लोक–सीमा का अतिक्रमण किया गया है। इसलिए यह वर्णन अतिशयोक्ति है। परन्तु कवि यह वर्णन किसी प्रयोजन से कर रहा है। वस्तुतः यहाँ नायिका के अतिशय सौन्दर्य का वर्णन है। नायिका का मुख कमल है। मुख पर दो नेत्र कमल है तथा ये तीनों (मुख तथा दो नेत्र रूप कमल) नायिका के देह रूपी कनकलता पर सुशोभित हो रहे हैं।

इस प्रकार यहाँ नायिका के मुख, दो नेत्र तथा शरीर रूपी उपमेय का कमल तथा कनकलता रूप उपमान के द्वारा निगिर्ण कर उपमान और उपमेय में अभेद की स्थापना की गई है। अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है।

अन्य उदाहरण

1. गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।
   चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.34
2. कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद् द्वैधीभवति मे मनः।
   पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतः स्रोतोवहो यथा॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 2.17

3. शक्यमरविन्दसुरभिः कणवाही मालिनीतरंगाणाम्।
अङ्गैरनङ्गतप्तैरविरलमालिङ्गितुं पवनः।। अभिज्ञानशाकुन्तल 3.4

4. पादस्याविर्भवन्तीमवनतिमवने रक्षतः स्वैरपातैः
संकोचेनैव दोष्णां मुहुरभिनयतः सर्वलोकातिगानाम्।
दृष्टिं लक्ष्येषु नोग्रज्वलनकणमुचं बध्नतो दाहभीतेर
इत्याधारानुरोधात्त्रिपुरविजयिनः पातु वो दुःखनृत्तम्।। मुद्राक्षस 1.2

5. यदि स्यान्मण्डले सक्तमिन्दोरिन्दीवरद्वयम्।
तदोपमीयते तस्या वदनं चारुलोचनम्।। साहित्यदर्पण पृ. 324

तुल्ययोगिता

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता।।

साहित्यदर्पण

अनुवाद - केवल प्रस्तुत या केवल अप्रस्तुत पदार्थों में एक धर्म के सम्बन्ध का नाम तुल्योगिता है।

विमर्श- तुल्यायोगिता अन्वयो यत्रेति तुल्योगिता अर्थात् समान (तुल्या) अन्वय (योगिता) का होना तुल्ययोगिता है। इसका तात्पर्य है कि जहाँ पर वर्णनीय प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत के गुण-क्रियादि रूप एक धर्म का वर्णन होता है वहाँ तुल्योगित यथा अलंकार होता है।

उदाहरण यथा -

अनुलेपनानि कुसुमान्यबलाः कृतमन्यवः पतिषु दीपदशाः।
समयेन तेन सुचिरं शयितप्रतिबोधतस्मरबोधिषत।।

(उस समय (सन्ध्या समय) ने देर तक (दिनभर) सोये हुए कामदेव को जगाने के लिए अनुलेपनों (चन्दन, कस्तूरी आदि का लेप) पुष्पों, पतियों पर क्रुद्ध अबलाओं और दीपों की बत्तियों को प्रतिबोधित किया।)

यहाँ अनुलेपन आदि के साथ एक ही धर्म 'बोधन क्रिया' का सम्बन्ध दिखाया गया है। इसलिए तुल्ययोगिता अलंकार है। यद्यपि बोधन क्रिया का तात्पर्य अनुलेपन, पुष्प आदि के साथ अलग-अलग है परन्तु सबको एक ही धर्म से अभिव्यक्ति चमत्कार का सृजन करता है।

अन्य उदाहरण

1. जानन्ति तन्त्रयुक्तिं यथास्थितिं मण्डलमभिलिखिन्ति।
ये मन्त्ररक्षणपरास्ते **सर्पनराधिपावुचरन्ति॥** मुद्राराक्षस 2.1
2. परिग्रहबहुत्वेऽपि **द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे** ।
समुद्रवसना चोर्वी सखी च युंवयोरियम्॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 3.17
3. संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे
भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम्।
चूतेन संश्रितवती नवमालिकेय -
मस्यामहं त्वयि च सम्प्रति वीतचिन्त:॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 4.13
4. जगत: किं न विजितं मयेति प्रविचिन्त्यताम्।
गुरौ षाड्गुणचिन्तायामार्ये चार्ये च जाग्रति॥ मुद्राराक्षस - 7.13
5. अश्वै: सार्द्धमजस्रदत्तकविकै: क्षामैरशून्यासनै:
स्नानाहारविहारपानशयनस्वेच्छासुखैर्वर्जितान्।
महात्म्यात्तव पौरुषस्य मतिमन्दृप्तारिदर्पच्छिद:
पश्यैतान्परिकल्पनाव्यतिकरप्रोच्छूनवंशान्नाजान्॥ मुद्राराक्षस - 7.15

दीपक

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते।
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्।
साहित्यदर्पण 10.49

अनुवाद -अप्रस्तुत और प्रस्तुत पदार्थों में एक धर्म (क्रिया) अथवा अनेक क्रियाओं में एक ही कारक होने पर दीपक अलंकार होता है।

विमर्श- दीपक अलंकार में प्रस्तुत (उपमेय) और अप्रस्तुत (उपमान) दोनों का ही वर्णन होता है। अर्थात् दोनों में एकधर्माभिसम्बन्ध होता है। अर्थात् दोनों में एक ही क्रिया रूप धर्म का कथन किया जाता है। इसी प्रकार अनेक क्रियाओं के होने पर एक ही कारक का कथन करना भी दीपक अलंकार होता है। जिस प्रकार दरवाजे की देहलीज पर रखा हुआ दीपक घर के अन्दर और बाहर दोनों ओर प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही गुण या क्रिया रूप धर्म अप्रस्तुत और प्रस्तुत दोनों पदार्थों का प्रकाशन करता है। इसीलिए इसको दीपक अलंकार कहते हैं।

भेद - दीपक अलंकार दो प्रकार का होता है -

1. क्रियादीपक तथा 2. कारक दीपक

क्रिया दीपक - अप्रस्तुत और प्रस्तुत दोनों ही पदार्थों के लिए एक ही क्रिया का कथन क्रिया दीपक है।

जैसे -

कृपणानां धनं नागानां फणमणिः केसराः सिंहानाम्।
कुलबालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽमृतानाम्॥

कंजूस का धन, नाग की फणमणि, सिंहो का केसर और कुलबालिकाओं के स्तन उनके जीवित रहते कैसे स्पर्श किये जा सकते हैं।

इस उदाहरण में कुलवधू प्रस्तुत है तथा कृपण का धन, नागों की फणमणि तथा सिंहों का केसर अप्रस्तुत है। इन दोनों के एक ही धर्म 'स्पृश्यन्ते' का वर्णन किया गया है। स्पर्श क्रिया रूप धर्म प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के लिए है। इसलिए यहाँ क्रिया दीपक अलंकार है।

कारक दीपक - अप्रस्तुत और प्रस्तुत के लिए एक ही कारक का प्रयोग कारक दीपक अलंकार होता है।

दूरं समागतवति त्वयि जीवनाथे
भिन्न मनोभवशरेण तपस्विनी सा।
उत्तिष्ठति स्वपिति, वासगृहं, त्वदीय-
मायाति याति हसति श्वसिति क्षणेन।

नायक के कहीं दूर चले जाने पर नायिका की दशा का वर्णन दूती करती है। तुम उसके प्राणनाथ हो, तुम्हारे दूर चले जाने पर वह बेचारी कामदेव के बाण से विधी हुई, (कभी) उठती है, (कभी) सोती है, (कभी)तुम्हारे निवास स्थान की ओर आती है और क्षण भर में लौट जाती है, (कभी) हँसती है और (कभी) लम्बी सांसे लेती है।

यहां उत्तिष्ठति, स्वपिति, आयाति, याति, हसति, श्वसिति, क्रियाओं का कर्ता रूप में एक ही कारक (कर्ता) 'सा' का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार अनेक क्रियाओं के साथ एक ही कारक का प्रयोग होने से यहाँ क्रिया दीपक अलंकार है।

अन्य उदाहरण

1. स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणा -
दद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रामाणाधिकः।
स्रस्तं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं
बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.30

2. स्वयमाहृत्य भुञ्जाना बलिनोऽपि स्वभावतः।
गजेन्द्राश्च नरेन्द्राश्च प्रायः सीदन्ति दुःखिता।। मुद्राराक्षस 2.6

3. अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन -
स्त्वय्यस्या कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम्।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः।। अभिज्ञानशाकुन्तल 4.17

4. बलाबलेपादधुनापि पूर्ववत् प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा।
सती च योषितृ प्रकृतिश्च निश्चला पुमांसभ्येति भवान्तरेष्वपि।
साहित्यदर्पण 328

दृष्टान्त

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्। साहित्यदर्पण 10.50

अनुवाद - धर्म के साथ वस्तु के प्रतिबिम्बन को दृष्टान्त अलंकार कहते हैं।

विमर्श -दो वाक्यों के बीच सादृश्य का वर्णन न होने पर भी सादृश्य की स्थापना प्रतिबिम्बन कहलाता है। अर्थात् दो वाक्यों के बीच शब्दतः सादृश्य का वर्णन नहीं होता है परन्तु सादृश्य की प्रतीति होती है।

दृष्टान्त अलंकार में उपमान और उपमेय दो वाक्य होते हैं। इन दोनों वाक्यों में साधारण धर्म के साथ प्रतिबिम्बन होता है। दोनों वाक्यों का साधारण धर्म भिन्न-भिन्न होता है तथा इव आदि सादृश्यवाचक किसी पद का प्रयोग भी नहीं होता है परन्तु उनके मध्य सादृश्य की प्रतीति होती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दृष्टान्त अलंकार में किसी बात को कहकर उसकी पुष्टि के लिए उसके ही समान दूसरी बात कही जाती है।

दृष्टान्त अलंकार दो प्रकार का होता है -

1. साधर्म्य दृष्टान्त
2. वैधर्म्य दृष्टान्त

उदाहरण-

साधर्म्य

अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला।

सत्कवियों की उक्ति के गुणों को न जानने पर भी (सुनने पर) कानों में मधुर धारा बरसाती है। (दूर होने के कारण) मालती माला का सुगन्ध प्रतीत न होने पर भी (वह माला) दृष्टि को अपनी ओर खींच ही लेती है।

यहाँ दो वाक्य हैं - सत्कवि के सम्बन्ध में तथा मालती माला के सम्बन्ध में। प्रथम उपमेय वाक्य है तथा द्वितीय उपमान-वाक्य है। इन दोनों वाक्यों के बीच सादृश्य की स्थापना के लिए ' इव' आदि सादृश्य वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। दोनों के साधारण धर्म भी भिन्न-भिन्न हैं परन्तु दोनों ही वाक्यों के बीच सादृश्य की प्रतीति हो रही है। इसलिए इनमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है। यहाँ धर्मी (सत्कवि तथा मालती-माला) और धर्म (मधुर धारा बरसाना तथा दृष्टि को अपनी ओर खींचना) में सादृश्य का कथन न होने पर भी सादृश्य की प्रतीति हो रही है। इसलिए यहाँ साधर्म्य दृष्टान्त अलंकार है।

वैधर्म्य

तवयि दृष्टे कुरङ्गाक्ष्याः स्रंसते मदनव्यथा।
दृष्टानुदयभाजीन्दौ ग्लानिः कुमुदसंहतेः॥

तुम्हें देखने पर मृगलोचनी की कामव्यथा दूर हो जाती है। चन्द्रमा के उदित न होने पर कुमुदावली की ग्लानि देखी गई है।

इन वाक्यों में मृगलोचनी और कुमुदावाली, नायक और चन्द्रमा तथा काम-व्यथा और ग्लानि में सादृश्य की प्रतीति हो रही है। यहाँ चन्द्रमा के उदित न होने पर कुमुदसमूह की ग्लानि देखी गई है (दृष्टानुदयभाजीन्दौ ग्लानिः कुमुदसंहते) वाक्य का उदित होने पर कुमुदसमूह की ग्लानि नहीं देखी गई है वाक्य में पर्यवसित होकर दोनों वाक्यों में विम्बप्रतिबिम्ब भाव दृष्टिगत होता है। अतः यहाँ दृष्टान्त अलंकार है।

अन्य उदहारण

1. शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
   दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.17
2. तपति तनुगात्राणि मदनस्त्वामनिशं मां पुर्नदहत्येव।
   ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः।।
   अभिज्ञानशाकुन्तल 3.14
3. कः कः शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले
   रज्जुछेदे के घटं धारयन्ति।
   एवं लोकस्तुल्यधर्मो वनानां
   काले काले छिद्यते रुह्यते च।। स्वप्नवासवदत्त 6/10
4. मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवताः
   तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः।
   पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं
   शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः।। कुमारसम्भक 5.4

निदर्शना

संभवन्वस्तुसंबन्धोऽसंभवन्वापि कुत्रचित्।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शाना।।

साहित्यदर्पण 10.51

अनवुाद - जहाँ कहीं वस्तु सम्बन्ध सम्भव होकर अथवा असम्भव होकर भी विम्बप्रतिबिम्ब भाव को बोधित करे, वह निदर्शना अलंकार होता है।

विमर्श -विम्बप्रतिबिम्ब भाव का तात्पर्य है - सादृश्य। सादृश्य ही उपमान और उपमेय का आधार है। कहीं पर दो वस्तुओं (वाक्यों) के बीच उपमानोपमेय भाव की कल्पना सम्भव होती है तथा कहीं पर असम्भव। दोनों की परिस्थितियों में दो वस्तुओं के बीच बिम्बप्रतिबिम्ब भाव की कल्पना की जाती है। इसमें दो वाक्यों (उपमेय और उपमान) के मध्य प्रत्यक्ष रूप से अन्वय नहीं बन पाता है परंतु इनमें अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। इस अप्रत्यक्ष संबंध के कारण ही वर्णनीय दो वाक्यों में उपमान - उपमेय की कल्पना की कल्पना कर ली जाती है। इसी को बिम्ब-प्रतिबिम्ब कहते हैं। दृष्यान्त अलंकार में उपमान-उपमेय में

बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है, जबकि यहाँ दोनों वाक्य (उपमेय-उपमान) सापेक्ष (अन्वित) होते हैं।

यह तीन प्रकार का होता है -

1. सम्भव निर्दशना
2. असम्भव निर्दशना (यह भी दो प्रकार का है - 1. एकवाक्यगत तथा 2. अनेकवाक्यगत)
3. मालारूप निर्दशना

यथा -

कोऽत्रभूमिवलये जनान्मुग्धा तापयन्सुचिरमेति संपदम्।
वेदयन्निति दिनेन भानुमानाससाद चरमाचलं ततः॥

(इस भूमि पर लोगों को व्यर्थ संताप देता हुआ कौन अधिक समय तक सम्पत्ति का उपभोग कर सकता है ? सन्तापदायक ग्रीष्म दिन के द्वारा यह सूचना देता हुआ सूर्य अस्ताचल की ओर चल दिया)

यहाँ 'सूर्य के अस्त होने' और 'संतापदायक मनुष्यों के विपत्ति में पड़ने' में सादृश्य के कारण विम्बप्रतिविम्ब भाव है। फलतः यहाँ निर्दशना अलंकार है।

अन्य उदाहरण

1. इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः
   स्तपः क्षमं साधयितुं य इच्छति।
   ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया
   समिल्लतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.18
2. शुश्रुषस्व **गुरुन्कुरु प्रियसखिवृत्तिं सपत्नीजने**
   भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
   भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
   यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 4.18
3. क्व सूर्यप्रभवोवंश क्व चाल्पविषया मतिः।
   तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥ रघुवंश 1.2
4. वक्षस्ताडनभिन्नरत्नवलयं भ्रष्टोत्तरीयांशुकं
   हा हेत्युच्चरितार्तनादकरुणं भूरेणुरुक्षालकम्।

तादृङ्मातृजनस्य शोकजनितं सम्प्रत्यवस्थान्तरं
शत्रुस्त्रीषु मया विधाय गुरवे देयो निवापाञ्जलिः।। मुद्राराक्षस - 4.5

5. योऽनुभूतः कुरङ्गाक्ष्यास्तस्या मधुरिमाधरे।
समास्वादि स मृद्वीकारसे रसविशारदैः।। साहित्यदर्पण - 10.51

व्यतिरेक

आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा व्यतिरेकः। साहित्यदर्पण 10.52

अनुवाद - उपमान से उपमेय का अधिक्य अथवा (अथवा) न्यूनता व्यतिरेक अलंकार है।

विमर्श- जहाँ उपमान से उपमेय को उत्कृष्ट अथवा उपमान से उपमेय को अपकृष्ट (हीन) बताया गया हो वहाँ पर व्यतिरेक अलंकार होता है।

भेद

1. उपमेय की उत्कृष्टता और उपमान की हीनता दोनों के कारणों का वर्णन होने पर।
2. उपमेय की उत्कृष्टता का कारण न बताया गया हो परन्तु उपमान की हीनता का कारण बताया गया हो।
3. उपमेय की उत्कृष्टता का कारण बताया गया हो परन्तु उपमान की हीनता का कारण न बताया गया हो।
4. उपमेय की उत्कृष्टता और उपमान की हीनता दोनों का कथन न किया गया हो।

इन चारों के पुनः तीन-तीन भेद होते हैं -

1. इन चारों में उपमानोपमेय भाव का शब्दतः कथन होना
2. इन चारों में उपमानोपमेय भाव शब्दतः नहीं अर्थबल से ज्ञात होना।
3. इन चारों में उपमानोपमेय भाव न शब्दगम्य हो और न ही अर्थगम्य, अपितु आक्षिप्त हो।

इस प्रकार चार भेदों के पुनः तीन-तीन भेद होने पर (4 X 3) 12 भेद हो गये।

ये 12 भेद श्लेष और अश्लेष भेद से (12 X 2) 24 प्रकार के हो जाते हैं।

इसी प्रकार उपमेय हीनता और उपमान की श्रेष्ठता में व्यतिरेक अलंका के 24 भेद होते हैं। दोनों मिलाकर व्यतिरेक अलंकार के कुल 48 भेद होते हैं।

यथा - **अकलङ्कं मुखं तस्या न कलङ्की विधुर्यथा।**

उसका निष्कलङ्क मुख कलङ्की चन्द्रमा जैसा नहीं है।

यहाँ मुख और चन्द्रमा क्रमशः उपमेय और उपमान हैं। इस वर्णन में उपमेय मुख को उपमान चन्द्रमा से उत्कृष्ट बताया गया है। मुख कलङ्करहित है जबकि चन्द्रमा कलङ्कयुक्त है। इस प्रकार यहाँ व्यतिरेक अलंकार है।

हनुमदाद्यैर्यशसा मया पुनर्द्विषां हसैर्दूतपथः सितीकृतः।

हनुमानादि के द्वारा दूतमार्ग (दूत के कर्म) को यश से शुभ्र किया गया और मेरे द्वारा (नल) उस (दूतमार्ग) को शत्रुओं की हँसी से शुभ्र क्रिया गया।

यहाँ हनुमानादि उपमान हैं तथा राजा नल उपमेय हैं। इस पद्य में उपमान की उत्कृष्टता और उपमेय की न्यूनता वर्णित है। हनुमानादि ने दौत्य कर्म करके यश को प्राप्त किया जबकि नील इसी कर्म को करके शत्रुओं की हँसी के पात्र बने। इस प्रकार यहाँ उपमान से उपमेय की न्यूनता का वर्णन होने से व्यतिरेक अलंकार है।

अन्य उदाहरण

1. यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्।
   तपःषड्भागमक्षयं ददत्यारण्यका हि नः।। अभिज्ञानशाकुन्तल 2.13
2. यो नन्दमौर्यनृपयोः परिभूय लोकम्
   अस्तोदयौ प्रतिदिशन्नविभिन्नकालम्।
   पर्यायपातितहिमोष्णमसर्वगामि
   धाम्नातिशाययति धाम सहस्रधाम्नः।। मुद्राराक्षस 3.17
3. क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम्।
   विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु।। साहित्यदर्पण 10.52
4. असिमात्रसहायस्य प्रभूतारिपराभवे।
   अन्यतुच्छजनस्येव न स्मयोऽस्य महाधृतेः।। काव्यप्रकाश 10.464
5. भवति पुरुषस्य व्याधिर्मरणं वा सेविते अपथ्ये।
   राजापथ्ये पुनः सेविते सकलमपि कुलं म्रियते। मुद्राराक्षस 7.2

समासोक्ति

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः॥

साहित्यदर्पण 10.56

अनुवाद - जहाँ समान कार्य, लिङ्ग और विशेषणों के द्वारा प्रस्तुत में अप्रस्तुत के व्यवहार का समारोप किया जाये वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है।

विमर्श -समासोक्ति अलंकार में कार्य, लिङ्ग और विशेषणों के बल से वर्णित विषय में अवर्णित विषय की प्रतीति होती है। तात्पर्य यह है कि जब किसी पद्य में वर्णित विषय के लिए प्रयुक्त कार्य, लिङ्ग और विशेषणों के सामर्थ्य से किसी अन्य विषय की प्रतीति होने लगे तब वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है। वस्तुतः समासोक्ति का अर्थ है - संक्षिप्त उक्ति। प्रस्तुत अर्थ से अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति के कारण इसमें संक्षिप्त होती है तथा इसीलिए इसको समासोक्ति कहते है।

भेद

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार समासोक्ति अलंकार के तीन प्रकार हैं -

1. समान कार्य के द्वारा प्रस्तुत में अप्रस्तुत का व्यवहार
2. स्त्रीलिङ्ग,पुल्लिङ्ग की तुल्यता से प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप
3. विशेषणों की समानता से प्रस्तुत में अप्रस्तुत का व्यवहार। विशेषणों की समानता भी दो प्रकार से होती है:–

   i. श्लिष्ट (दो अर्थवाले शब्द) विशेषणों से प्रस्तुत में अप्रस्तुत का व्यवहार

   ii. विशेषणों का प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत अर्थ में समान रूप से अन्वय

   इस प्रकार समासोक्ति अलंकार के भेद चार हैं।

सामासोक्ति अलंकार में प्रस्तुत में अप्रस्तुत का व्यवहार चार प्रकार से होता है -

1. एक लौकिक वस्तु में दूसरे लौकिक वस्तु का व्यवहार
2. एक शास्त्रीय वस्तु में दूसरे शास्त्रीय वस्तु का व्यवहार
3. लौकिक वस्तु में शास्त्रीय वस्तु का व्यवहार
4. शास्त्रीय वस्तु में लौकिक वस्तु का व्यवहार

यथा -

लब्ध्वा तव बाहुस्पर्शं यस्याः स कोऽप्युल्लासः।
जयलक्ष्मीस्तव विरहे न खलूज्ज्वला दुर्बला ननु सा॥

किसी वीर योद्धा के बारे में कहा जा रहा है - तुम्हारे बाहु का स्पर्श पाकर जिसको कोई अनिवर्चनीय आनन्द की प्राप्ति होती थी, वह जयलक्ष्मी तुम्हारे विरह में अब न केवल अनुज्ज्वल अपितु दुर्बल भी हो गई है।

इस पद्य में जयलक्ष्मी अर्थात् विजयश्री का वर्णन किया गया है। वीर योद्धा के अभाव में वियजश्री कान्तिरहित और दुर्बल हो गई है। यहाँ विजयश्री के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, उन्हीं विशेषणों के बल से जयलक्ष्मी पद का कामिनी या नायिका अर्थ भी व्यञ्जित हो रहा है तथा कामिनी के संदर्भ में सम्पूर्ण पद्य का अभिप्राय अत्यन्त सरलता से व्यञ्जित हो रहा है। आचार्य विश्वनाथ ने इसी को 'व्यवहार समारोपः' कहा है। अर्थात् प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप। इस उदाहरण में प्रस्तुत जयलक्ष्मी पर अप्रस्तुत कामिनी का आरोप किया गया है। यह आरोप व्यक्ति अपने मन से नहीं कर सकता है। अपितु प्रयुक्त कार्य, लिङ्ग या विशेषण के बल से होता है।

जयलक्ष्मी पद का अर्थ कामिनी लेने पर पद्य का अर्थ है - हे नायक तुम्हारी बाहुओं का स्पर्श पाकर जिसको कोई अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता था, वह कामिनी अब तुम्हारे विरह में कान्तिरहित और बलरहित हो गई है।

इस प्रकार यहाँ प्रस्तुत जयलक्ष्मी पर अप्रस्तुत कामिनी के समारोप से एक नवीन अर्थ की प्रतीति हो रही है। अतः यहाँ समासोक्ति अलंकार है।

अन्य उदाहरण

1. यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना -
   माविष्कृतोऽरुणपुरः सर एकतोऽर्कः।
   तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
   लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 4.2
2. अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
   दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।

इष्टप्रवासजीनतान्यबलाजनस्य
दु:खानि नूनमतिमात्रसुदुः सहानि।। अभिज्ञानशाकुन्तल 4.3

3. सुविश्रब्धैरङ्गैः पथिषु विषमेष्वप्यचलता
चिरं धुर्येणोढा गुरुरपि भुवो यास्य गुरुणा।
धुरं तामेवोच्चैर्नववयसि वोढुं व्यवसितो
मनस्वी दम्यत्वात्स्खलति च न दुःख वहति च।। मुद्राराक्षस 3.3

4. उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तथा पुरोऽपि रागात् गलितं न लक्षितम्।
ध्वन्यालोक 1.13

5. उदारकीर्त्तेरुदयं दयावतः
प्रशान्तबाधं दिशतोभिरक्षया।
स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता
वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी।। किरातार्जुनीय 1.18

स्वभावोक्ति

स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्। साहित्यदर्पण 10.93

अनुवाद – दुरूह अर्थात् कविमात्र से ज्ञातव्य अर्थ (दुरूहार्थ) जो बच्चे आदि की स्वचेष्टा (स्वक्रिया) और स्वरूप (रूप) का वर्णन है, वह स्वभावोक्ति अलंकार है।

विमर्श – इसका तात्पर्य है कि स्वभावोक्ति अलंकार में बालक आदि की स्वाभाविक क्रिया तथा स्वभाव का वर्णन होता है। परन्तु इसकी एक शर्त है - इसमें कवि प्रतिभा का चमत्कार होना चाहिए। इसीलिए लक्षण में दुरूहार्थ (कवि मात्र से ज्ञातव्य अर्थ) का प्रयोग किया गया है।

स्वभावस्य-स्वभविकगुणस्य उक्तिः कथनमिति स्वभावोक्तिः अर्थात् स्वभाविक गुणों का कथन स्वभावोक्ति है। स्वाभविक गुण के अन्तर्गत वस्तु की जाति, गुण, क्रिया तथा स्वभाव ग्रहण होता है। इसलिए किसी वस्तु की जाति, गुण, क्रिया तथा स्वरूप का वर्णन स्वभावोक्ति अलंकार में होता है। इस वर्णन में कवि की मौलिक प्रतिभा, सूक्ष्म पर्यवेक्षणशीलता और चमत्कार का दर्शन होना चाहिए। यह अलंकार केवल बालकों के स्वभावादि वर्णत तक

सीमित नहीं है। इसमें पशु, पक्षी, नर, नारी, प्राकृतिक दृश्य आदि भी समिल्लित है। अचार्य रूद्रट ने स्पष्ट कहा है कि शिशु, मुग्ध, युवति, कातर, पशु-पक्षी, संभ्रात तथा हीन व्यक्तियों का काल और अवस्था के अनुसार वर्णन में इस अलंकार की विशेष रमणीयता होती है।

1. अग्निपुराण में स्वभावोक्ति को स्वरूप अलंकार कहा गया है। यहाँ इसके दो भेद बताये गये हैं -

   (क) निज तथा (ख) आगन्तुक

2. आचार्य दण्डी स्वभावोक्ति के चार भेद मानते हैं - 1. जाति 2. गुण 3. क्रिया और 4. द्रव्य
3. भामह स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते हैं।
4. कुछ आचार्या स्वभावोक्ति का जाति नाम से वर्णन करते हैं।
5. आचार्य कुन्तक ने स्वभावोक्ति अलंकार का खण्डन किया है। उनका मानना है कि यह अलंकार न होकर अलंकार्य है।

उदाहरण

लांगूलेनाभिहत्य क्षितितलमसकृद्दारयन्नग्रपद्भ्यया
मात्मन्येवावलीय द्रुतमथ गगनं प्रोत्पतन्विक्रमेण।
स्फूर्जद्धृंकारघोषः प्रतिदिशमखिलान्द्रावयन्नेवजन्तू
न्कोपाविष्टः प्रविष्टः प्रतिवनमरुणोच्छून चक्षुस्तरक्षुः॥

(बार-बार पूँछ को पटककर अगले पैरों से पृथ्वी को खोदता हुआ, बड़े वेग से घूँ-घूँ शब्द करता हुआ, सभी जीवों को चारों ओर भागता हुआ, क्रोध से भरा, लाल-लाल उभरे हुए आखों वाला तरक्षु (लकड़बग्घा) वन में प्रवेश किया।)

यहाँ क्रोधित लकड़बग्घा के वन में प्रवेश का स्वाभाविक वर्णन है। अतः स्वाभाविक अलंकार है।

अन्य उदाहरण

1. मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया
   निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः।
   आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलंघनीया
   धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.8

2. नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा -
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः।।

अभिज्ञानशाकुन्तल 1.14

3. कुल्याम्भोभिः पवनचपलैः शाखिनो धौतमूला
भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन।
एते चार्वागुपवनभुविच्छिन्नदर्भाङ्कुराणां
नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.15

4. प्राकारं परितः शरासनधरैः क्षिप्रं परिक्रम्यतां
द्वारेषु द्विरदैः प्रतिद्विपघटाभेदक्षमैः स्थीयताम्।
त्यक्त्वा मृत्युभयं प्रहर्तुमनसः शत्रोर्बले दुर्बले
ते निर्यान्तु मया सहैकमनसो येषामभीष्टं यशः।। मुद्राराक्षस 2.13

5. उपशकलमेतद् भेदकं गोमयानां
बटुभिरूपहृतानां बर्हिषां स्तूपमेतत्।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभिर्
विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्।। मुद्राराक्षस 3.15

अप्रस्तुत प्रशंसा

क्वचिद्विशेषः सामान्यात्सामान्यं वा विशेषतः।
कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम्।।
अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेत् गम्यते पञ्चधा ततः
अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद्।।

साहित्यदर्पण 10.59

अनुवाद – यदि अप्रस्तुत से प्रस्तुत की अभिव्यक्ति होती है तब अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता है। । यह पाँच प्रकार का होता है – कहीं पर सामान्य से विशेष, कहीं पर विशेष से सामान्य, कहीं पर कार्य से कारण और कहीं पर कारण से कार्य कहीं पर समान से समान की प्रतीति होती है।

विमर्श– प्रस्तुत के वर्णन के लिए अप्रस्तुत का वर्णन करना अप्रस्तुतप्रशंसा

अलंकार होता है। अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत का वर्णन पाँच प्रकार से किया जाता है:-

1. अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष का वर्णन
2. अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य का वर्णन
3. अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण का वर्णन
4. अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य का वर्णन
5. अप्रस्तुत समान वस्तु से प्रस्तुत समान वस्तु का वर्णन

इसी आधार पर अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार के पाँच प्रकार होते हैं। ये पाँच प्रकार वहीं है जो अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत के वर्णन के प्रकार हैं।

1. अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में वाच्यार्थ अप्रस्तुत होता है तथा प्रस्तुत व्यंग्य होता है।
2. प्रस्तुत का ही प्राधान्य होता है।
3. समासोक्ति में प्रस्तुत के वर्णन से अप्रस्तुत का आक्षेप होता है जबकि अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत से प्रस्तुत का वर्णन किया जाता है।

यथा -

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरंरजः।।

(अपना अपमान होने पर भी चुप बैठे रहने वाले मनुष्यों से तो वह धूल भी अच्छी है जो ठोकर लगने पर ठोकर मारने वाले के सिर पर बैठ जाती है।)

यहाँ कहने का तात्पर्य है कि शिशुपाल के अपमानों को सहन करने वाले हम लोगों (कृष्ण, बलभ्रद आदि) से श्रेष्ठ तो धूल है। यह इस पद्य का प्रस्तुत अर्थ है जो विशेष है। परन्तु सामान्य लोगों (देही) की बात की गई है। इस प्रकार यहाँ अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष व्यंग्य है।

अन्य उदाहरण

1. असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
   यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
   सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु
   प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.22

2. **कः पौरवे** वसुमतिं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।
अयमाचरत्यविनयं **मुग्धासु तपस्विकन्यासु**।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.25
3. शुद्धान्तदुर्लभमिदं **वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।**
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.17
4. पुरुषस्य जीवितव्यं विषमाद् भवति भक्तिगृहीतात्।
मारयति सर्वलोकं यस्तेन यमेन जीवामः।। मुद्राराक्षस 1.18
5. अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्याद्भक्तियुक्तेन कः
प्रज्ञाविक्रमशालिनोपि हि भवेत्किं भक्तिहीनात्फलम्।
प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुदिता येषां गुणा भूतये
ते भृत्या नृपतेः कलत्रमितरे संपत्सु चापत्सु च।। मुद्राराक्षस 1.15

अर्थान्तरन्यास

सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि।
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः।।

अनुवाद - यदि विशेष से सामान्य, सामान्य से विशेष, कारण से कार्य तथा कार्य से कारण का साधर्म्य से अथवा वैधर्म्य से से समर्थन किया जाए तब अर्थान्तर अलंकार होता है । यह आठ प्रकार का होता है।

विमर्श - अर्थान्तरन्यास अलंकार में जिस विषय का वर्णन किया जाता है, उस विषय का समर्थन किसी अन्य विषय को उपस्थित करके किया जाता है। इसमें एक वर्णनीय विषय होता है। कवि वर्णनीय विषय के समर्थन में अवर्णनीय विषय को प्रस्तुत करता है।

अन्यं अर्थं अर्थान्तरं, तस्य न्यासः अर्थान्तरन्यासः। अर्थान्तर अप्रस्तुत होता है। कवि प्रस्तुत के समर्थन में अप्रस्तुत को उपस्थित करता है। यह समर्थन मुख्यतः साधर्म्य तथा वैधर्म्य दो प्रकार से होता है। पुनः ये दोनों चार-चार प्रकार के होते हैं। इस प्रकार अर्थान्तरन्यास अलंकार आठ प्रकार का होता है-

1. प्रस्तुत के सामान्य होने पर अप्रस्तुत विशेष से समर्थन।
2. प्रस्तुत के विशेष होने पर अप्रस्तुत सामान्य से समर्थन।

3. प्रस्तुत के कार्य होने का अप्रस्तुत कारण से समर्थन।
4. प्रस्तुत के कारण होने पर अप्रस्तुत कारण से समर्थन।

ये चार प्रकार का समर्थन साधर्म्य तथा वैधर्म्य से होकर अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार के 8 भेद हो जाते हैं।

यथा-

बृहत्सहाय: कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा॥

(बड़ों की सहायता पाकर छोटा आदमी भी कार्य पूरा कर लेता है। बड़ी नदी के साथ मिलकर छोटी पहाड़ी नदी भी समुद्र तक पहुँच जाती है।)

यहाँ 'बड़ो की सहायता पाकर छोटा आदमी भी कार्य पूरा कर लेता है' यह एक प्रस्तुत तथा सामान्य विषय है। कवि इसी का वर्णन कर रहा है। इस प्रस्तुत सामान्य विषय के समर्थन में बड़ी नदी और छोटी पहाड़ी नदी का उदाहरण दिया गया है। यह उदाहरण यहाँ अप्रस्तुत है क्योंकि यह कवि का वर्ण्य-विषय नहीं है, केवल वर्ण्य-विषय के समर्थन के लिए इसको प्रस्तुत किया गया है। दोनों में साधर्म्य भी है। इसलिए यह अर्थान्तरन्यास अलंकार का उदाहरण है।

अन्य उदाहरण

1. आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
   बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेत:॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.2
2. शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरित च बाहु कुत: फलमिहास्य।
   अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.16
3. सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
   मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
   इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
   किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.20
4. पृथिव्यां किं दग्धा: प्रथितकुलजा भूमिपतय:
   पतिं पापे मौर्ये यदसि कुलहीनं वृतवती
   प्रकृत्या वा काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला
   पुरन्ध्रीणां प्रज्ञा पुरुषगुणविज्ञानविमुखी॥ मुद्राराक्षस 2.7

5. पूर्वं त्वयाप्यभिमतं गतमेवमासी-
च्छ्लाघ्यं गमिष्यसि पुनर्विजयेन भर्तुः।
कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना
चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्ति। स्वप्नवासवदत्त 1/4

काव्यलिङ्ग

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते। साहित्यदर्पण - 10.64

अनुवाद - हेतु का वाक्यार्थ या पदार्थ के रूप में होना काव्यलिङ्ग अलंकार कहलाता है । अर्थात् काव्य का वाक्यार्थ या पदार्थ जब किसी कथन के कारण के रूप में प्रयुक्त होता है तब वहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार होता है।

विमर्श- काव्यलिङ्ग पद में प्रयुक्त लिङ्ग पद का अर्थ है - **हेतु - लिङ्गं हेतुः। काव्याभिमतं लिङ्गं काव्यलिङ्गम्।** अर्थात् काव्यसम्मत् हेतु काव्यलिङ्ग है। यहाँ काव्यसम्मत् कहने का तात्पर्य है कि काव्य में जिन हेतुओं का वर्णन किया जाता है वे तर्कशास्त्र से भिन्न होते हैं। इस अलंकार के नाम में काव्य पद के प्रयोग का भी यही प्रयोजन है। काव्य में कारण का वर्णन कहीं वाक्यार्थ के रूप में होता है और कहीं पदार्थ के रूप में होता है। इसी आधार पर काव्यलिङ्ग अलंकार के दो भेद होते हैं -

1. वाक्यार्थगत काव्यलिङ्ग
2. पदार्थगत काव्यलिङ्ग

यथा-

यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं
मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी।
येऽपि त्वदगमनानुसारिगतयस्ते राजहंसा
गतास्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते।।

(हे प्रिये, तुम्हारे नेत्र के समान कान्तिवाले नीलकमल पानी में डूब गये। तुम्हारे मुख की छाया का अनुकरण करने वाले चन्द्रमा को बादलों ने ढँक लिया, जो तुम्हारी गति के समान गतिवाले राजहंस थे, वे सब (वर्षा के कारण) चले गये)। दैव तुम्हारे सादृश्य के साथ भी मेरे विनोद को सहन नहीं कर रहा है।

इस पद्य के प्रथम तीन चरणों में जिन प्रतिकूलताओं का वर्णन किया गया है, उन सबका कारण चतुर्थ चरण में दैव को बताया गया है। इस प्रकार प्रथम तीन चरणों के वाक्यार्थ का हेतु चतुर्थ चरण का वाक्यार्थ है। अतः यहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार है। यहाँ पूर्वार्ध के तीन वाक्यों का कारण उत्तरार्ध का वाक्य है। इसलिए यह वाक्यगत काव्य-लिङ्ग है।

अन्य उदाहरण

1. विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
 तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
 स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि स
 न्कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव।।
2. ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
 अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.4
3. तत्साधुकृतसंधानं प्रतिसंहर सायकम्।
 आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.11
4. प्रणमत यमस्य चरणौ किं कार्यं दैवतैरन्यैः।
 एष खल्वन्यभक्तानां हरति जीवं परिस्फुरन्तम्।। मुद्राराक्षस 1.17
5. कार्यं नैवार्थैर्नापि भौगैर्न वस्त्रै -
 नाहं काषायं वृत्तिहेतोः प्रपन्नः।
 धीरा कन्येयं दृष्टधर्मप्रचारा
 शक्ता चारित्रं रक्षितुं मे भगिन्याः।। स्वप्नवासवदत्त 1/9

विभावना

विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते। साहित्यदर्पण 10.66

अनुवाद - हेतु अर्थात् कारण के बिना यदि कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो तो विभावना अलंकार होता है। अर्थात् कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति का वर्णन करना विभावना अलंकार है।

विमर्श- विभावना शब्द में प्रयुक्त 'वि' उपसर्ग का अर्थ है - विशेष तथा भावना का अर्थ है - कल्पना। इस प्रकार विभावना का अर्थ है - विशेष प्रकार

की कल्पना कवि की प्रतिभा अत्यन्त उर्वर होती है। वह कारण के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति दिखलाता है। यही तो उसका चमत्कार है। इस प्रकार विभावना अलंकार में कारण के बिना कार्य का वर्णन किया जाता है। यहाँ जो लौकिक नियम का विरोध होता है उसके शमन के लिए कवि किसी प्रसिद्ध कारण का उल्लेख कर देता है।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार विभावना अलंकार के दो प्रकार हैं:-

1. उक्तनिमित्ता 2. अनुक्तनिमित्ता

उक्तनिमित्ता विभावना - इसमें अप्रसिद्ध कारण का उल्लेख होता है।

यथा -

अनायासकृशं मध्यमशङ्कतरले दृशौ।
आभूषणमनोहारि वपुर्वयसि सुभ्रुवः॥

यौवन काल में सुन्दर भृकुटीवाली इस नायिका की कमर बिना श्रम के ही दुबली हो रही है और नेत्र विना ही शंका के चञ्चल हैं तथा शरीर बिना ही भूषणों के रमणीय है।

कमर के दुवला होने का कारण श्रम है, नेत्रों की चञ्चलता का कारण शंका है तथा शरीर की सुंदरता का कारण आभूषण है परन्तु यहाँ इन कारणों के अभाव में भी कार्य हो रहा है। श्रम के बिना की कमर दुबली हो गई है। शंका के अभाव में भी नेत्र चञ्चल हो गये हैं तथा बिना आभूषण के शरीर सुन्दर लग रहा है। इस प्रकार यहाँ प्रसिद्ध कारण के अभाव में भी कार्य सम्पन्न हो रहा है। इसलिए यहाँ विभावना अलंकार है। यहाँ इन सबका गौण कारण यौवन उक्त है। इसीलिए यहाँ उक्तनिमित्ता विभावना है।

अनुक्तनिमित्ता विभावना - आचार्य विश्वनाथ के अनुसार उपर्युक्त श्लोक में **'वपुर्वयसि सुभ्रुवः** के स्थान पर **'वपुर्भाति मृगीदृशः'** परिवर्तित कर देने पर यही पद अनुक्तनिमित्ता का उदाहरण बन जाता है। वस्तुतः 'वपुर्भाति मृगीदृशः' कर देने पर उक्त पद्य में कार्य दृष्टिगत होता है परन्तु कारण नहीं तथा कारण के अनुक्त हो जाने से यह अनुक्तनिमित्ता विभावना का उदाहरण हो जायेगा।

अन्य उदाहरण

1. यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते
ततस्ततः प्रेरितवामलोचना।
विवर्तितभ्रूरियमद्य शिक्षते
भयादकामापि हि दृष्टिविभ्रमम्॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.23

2. पृष्टा जनेन समदुःखसुखेन बाला
नेयं न वक्ष्यति मनोगतमाधिहेतुम्।
दृष्टो विवृत्य बहुशोऽप्यनया सतृष्ण -
मत्रान्तरे **श्रवणकातरतां गतोऽस्मि॥** अभिज्ञानशाकुन्तल 3.8

3. अक्षीणभक्तिः क्षीणेऽपि नन्दे स्वाम्यर्थमुद्वहन्।
पृथिव्यां स्वामिभक्तानां प्रमाणे परमे स्थितः॥ मुद्राराक्षस 2.22

4. विगुणीकृतकार्मुकोऽपि जेतुं भुवि जेतव्यमसौ समर्थ एव।
स्वपतोऽपि ममेव यस्य तन्त्रे गुरवो जाग्रति कार्यजागरूकाः॥
मुद्राराक्षस 7.11

5. कुसुमितलताभिरहताऽप्यधत्त रुजमलिकुलैरदष्टापि।
परिवर्त्तते स्म नलिनी लहरीभिरलोलिताऽप्यघूर्णत सा॥
काव्यप्रकाश 10.474